धीरे-धीरे ही सही, टूट रही है शिक्षा-व्यवस्था की जड़ता

दक्षिणपंथी बनाम वामपंथी नजरिए के दलदल में शिक्षा की जो बहस फंस गई थी, इस बार उससे निकालने की दिलचस्प प्रक्रिया शुरू हुई है।

■ अपूर्वानंद

संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार आने के बाद कयास लगाया जाने लगा कि राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के दौरान एनसीईआरटी द्वारा तैयार की गई किताबों, विशेषकर इतिहास की किताबों को फौरन बदल दिया जाएगा और पुरानी किताबें, जो प्रोफेसर रामशरण शर्मा, प्रो. विपिनचंद्र, प्रो. सतीशचंद्र और प्रो. रोमिला थापर आदि द्वारा लिखी गई थीं, वापस बहाल कर दी जाएंगी। लेकिन एनसीईआरटी ने ऐसा नहीं किया। दक्षिणपंथी नजरिया बनाम वामपंथी नजरिया के दलदल में शिक्षा की जो बहस फंस गई थी, इस बार उससे निकालने की एक दिलचस्प प्रक्रिया शुरू हुई।

स्वतंत्र भारत ने सुदीर्घ विचार-विमर्श और चिंतन के बाद अपना संविधान बनाया था। इसलिए यह उसके स्वभाव में है कि किसी भी मसले पर सार्वजनिक दस्तावेजों का निर्माण वह करता रहे। 1952 के स्वतंत्र भारत के पहले सेकंडरी शिक्षा आयोग ने स्कूली शिक्षा की जिन चुनौतियों की पहचान की थी, 2005 की स्कूली शिक्षा के लिए निर्मित राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा उन्हें नए सिरे से चिह्नित करते हुए यह प्रश्न उठाती है कि एक लोकतांत्रिक व्यक्ति की रचना में शिक्षा की किन युक्तियों को उपयोग में लाया जाए?

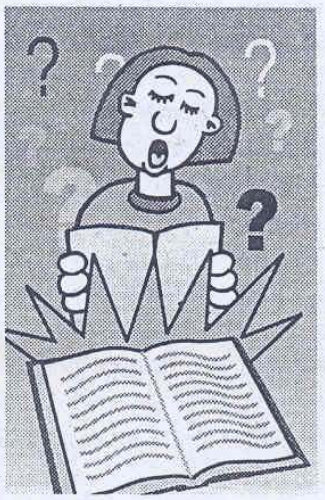

जब दलित, आदिवासी, मुसलमान लड़कियां बड़ी संख्या में स्कूल में प्रवेश करेंगी तो ज्ञान की प्रकृति क्या वही रह जाएगी, जो उनके पहले थी? क्या शिक्षार्थी को इस बात की आजादी होगी कि वह पढ़ाई जाने वाली किताबों पर सवाल उठा सके? 2005 की राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा के इन बुनियादी सवालों के चलते स्कूल की संरचना, स्कूल में होनेवाली गतिविधियों की योजना, शिक्षक की तैयारी, परीक्षा प्रणाली और सबसे ऊपर स्कूली किताबों को लेकर नए ढंग से सोचने के रास्ते खुलें।

यह अकारण नहीं था कि कुछ वामपंथी संगठनों और व्यक्तियों ने नई पाठ्यचर्चा पर यह कहकर आक्रमण किया कि वह स्थानीय ज्ञान, लोकज्ञान को अतिरिक्त महत्व दे रही है और आधुनिक ज्ञान के साथ उसका घालमेल कर रही है। वे इस वजह से भी नाराज हो गए कि पुरानी इतिहास की किताबों को उसी रूप में लागू करने की जगह 2005 की पाठ्यचर्चा की रोशनी में नए शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर नई किताबें तैयार होने लगीं। राजनीति विज्ञान, सामाजिक विज्ञान में भी ऐसी किताबें तैयार की गईं, जिन्होंने अपने भीतर ही ऐसी वजहें खोज निकालीं, जहां से उन्हें पढ़ने वाले कई ऐसे सवाल उठा सकते हैं, जिनसे स्थापित राजसत्ता को परेशानी हो सकती है। यशपाल ने 1992 में अपनी रिपोर्ट में कहा था कि भारत की स्कूली शिक्षा से बड़ी संख्या में आरंभिक कक्षाओं में ही बच्चों के आक्रांत हो जाने की एक वजह उसका दुर्बोध होना है। सूचनाओं से आतंकित पुस्तक लेखक किताबों में ठूंस-ठूंसकर सूचनाएं भर देते हैं। नतीजा है लेखन की ऐसी शैली, जो न शिक्षक की समझ में आती है, न छात्रों के। ऐसे में रटने के अलावा चारा क्या है? यशपाल ने कहा है कि स्कूली शिक्षा का काम छात्रों को ज्ञान-संसार में भ्रमण करने की दिलचस्पी पैदा करने का है और उनके अंदर यह भरोसा पैदा करने का भी कि ज्ञान उनके आसपास मानवीय-सामाजिक क्रियाकलाप के बीच ही पैदा होता है इसलिए वे उसके साथ एक सक्रिय और जीवंत संबंध बना सकते हैं।

2005 की स्कूली पाठ्यचर्चा ने जो शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांत प्रस्तुत किए, 2006 और 2007 में अलग-अलग कक्षाओं के लिए तैयार किताबें उनका प्रयोग करने की कोशिश करती हैं। आप अंग्रेजी की किताब उठाइए जिसमें भारतीय परिवेश से अच्छी-खासी सामग्री ली गई है।

शिक्षा पर सार्वजनिक चर्चा न तो मुद्दे बदल पाई हैं, न निगाहें बदली हैं। यह हमारे सार्वजनिक जीवन में फैले बौद्धिक आलस्य का एक और नमूना है। एक जाने-माने अंग्रेजी अखबार ने तकरीबन एक महीना पहले अपने पहले संपादकीय में यह सलाह दी कि एनसीईआरटी को उबाऊ किताबें तैयार नहीं करनी चाहिए। इससे यह पता चलता है कि उक्त संपादकीय के लेखक ने 2006-2007 की किताबों को उलट-पलटकर भी देखने की कोशिश नहीं की। वर्ना उनका ध्यान इस बात पर जाता कि आखिर क्या वजह है कि इस बार की स्कूली किताबों और पाठ्यचर्चा से न तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रसन्न है और न शिक्षा संस्थानों से पारंपरिक रूप से जुड़े रहने वाले वामपंथी संतुष्ट हैं। इसका मतलब कहीं कुछ 'टूटा' है।

अगर हम रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा का लहजा अपनाकर कहें, तो लगभग पत्थर हो गई शिक्षा-व्यवस्था के ऊपर अभी सिर्फ दरार पड़ने के निशान हैं। अभी और चोट पड़ना बाकी है।

-लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी के रीडर हैं।